पंचास्रव

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

पंचास्रव का अर्थ है– पाँच कर्मों के आने का द्वार। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग पंचास्रव कहलाते हैं। पाप एवं पुण्य का आत्मा की तरफ आकर्षित होना आस्रव है। आत्मा शुद्ध–बुद्ध और मुक्त है। यह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है। कर्म रज के संयोग से आत्मा मलीन हो जाता है। मन, वचन और काया कर्मों का भुगतान करने के लिए है। आत्मा की तरफ कर्मरज कैसे आकर्षित होते हैं इसको एक उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है। जैसे तालाब में किसी स्थान पर छेद बनाकर के उसमें पाईप डालकर जगह बना दी जाये तो उसके अन्दर शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का जल चला जाता है। जल के प्रवेश होने से तालाब जल से भर जाता है। वैसे ही आत्मा में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के द्वारा कर्म रज आत्मा के साथ मिलकर आत्मा को मलीन बना देते हैं। इसको रोक देने से आत्मा अपने स्वसरूप में अवस्थित रहता है।

पंचास्रव में सबसे पहले मिथ्यात्व की गणना होती है। मिथ्यात्व का अर्थ है– दृष्टि का विपरित होना। जीव को अजीव समझना, साध को असाध समझना, शुद्ध को अशुद्ध समझना और सत्य को असत्य मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण दृष्टि मलीन हो जाती है। सब कुछ विपरित दिखने लगता है। दृष्टि के मलीन होने से हम गन्तव्य तक नहीं पहुंच सकते। मिथ्या दृष्टि के कारण चौरासी लाख यौनियों में भ्रमण होता है। द्वितीय आस्रव अविरति है। अविरति का अर्थ है, धार्मिक क्रिया में रुचि न होना, पूजा–पाठ, सामायिक, ईश्वर भक्ति में रूचि न होना। अपने अस्तित्व का ज्ञान न होना अविरति है। खाओ–पीओ और मस्त रहो के प्रति रुचि अधिक होती है। सम्पत्ति, पद प्रतिष्ठा में लिप्त रहना अविरति है। इसे छोड़ना विरति है। पंचास्रव में तीसरा स्थान प्रमाद का है। प्रमाद का अर्थ है आलस्य। आलस्य ही मनुष्य के शरीर का सबसे बड़ा शत्रु है। कहा भी गया है– आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपु अर्थात

आलस्य मनुष्य के शरीर में स्थित सबसे बड़ा शत्रु है। आलस्य के कारण मनुष्य का जीवन शिथिल हो जाता है। किसी कार्य में उसकी रुचि नहीं रहती।

अगला आास्रव है कषाय। कषाय का अर्थ है रंगा हुआ। आत्मा के साथ क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष का रहना कषाय कहलाता है। राग और द्वेष आत्मा का घात करते हैं। ये कर्मों को बढ़ाते हैं। राग–द्वेष संसार के कारण है और वीतराग संसार से मुक्त होना है। मुक्त होने के लिए राग–द्वेष को जीतकर समता भाव धारण करना पड़ता है। प्रियता–अप्रियता से मुक्त हो जाना समता भाव है। परिस्थितियों की प्रताड़ना से मुक्त होना आवश्यक होता है। अन्तिम आस्रव योग है। मन, वचन और काया को प्रवृत्ति को योग कहते हैं। वाणी के द्वारा हम एक–दूसरे से सम्पर्क करते हैं। इसलिए मनुष्य को हित, मित वचन बोलना चाहिए। सभी के साथ मधुर सम्बन्ध बनाना चाहिए। वाणी से सबको वश में किया जा सकता है। मानव शरीर के द्वारा प्रवृत्ति करता है। यदि प्रवृत्ति शुभ होती है तो भाव शुभ होते हैं। सामायिक करने से सब प्रकार की हिंसा रूक जाती है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है– सावद्य प्रवृत्ति और निरवद्य प्रवृत्ति। सावद्य प्रवृत्ति पापकारी प्रवृत्ति है। इससे अशुभ भाव जागृत होते हैं। निरवद्य प्रवृत्ति शुभ प्रवृत्ति है। इसके द्वारा शुभ भाव जागृत होते हैं।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएं हैं। बन्ध, सत्ता, उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति, निकाचित और आबाधाकाल। आत्मा के साथ कर्मपरमाणुओं का सम्बन्ध होना, क्षीर नीरवत् एकमेक हो जाना बंध है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध के चार प्रकार हैं। आबद्ध कर्म अपना फल प्रदान कर जब तक आत्मा से पृथक् नहीं हो जाते तब तक वे आत्मा से ही सम्बद्ध रहते हैं। इसे सत्ता कहा है। स्थिति बन्ध और अनुभागबन्ध के बढ़ने को उद्वर्तना कहते हैं। स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के घटने को अपवर्तना कहते हैं। उद्वर्तना और अपवर्तना के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देता है और कोई देर में, किसी का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द। एक प्रकार के कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्मपरमाणुओं की स्थिति आदि के रूप में परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया को संक्रमण कहते हैं। कर्म का फलदान उदय है। यदि कर्म फलदेकर निर्जीर्ण हों

तो वह फलोदय है और फल दिये बिना ही उदय में आकर नष्ट हो जाय तो प्रदेशोदय है। नियत समय के पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा है। कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय में आने के लिए उन्हें अक्षम बना देना उपशम है। जिसमें कर्मों का उदय और संक्रमण न हो सके, किन्तु उद्‌वर्तन–अपवर्तन की संभावना हो वह निधत्ति है। जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण एवं उदीरणा इन चारों अवस्थाओं का अभाव हो, वह निकाचित है। अर्थात् आत्मा में जिस रूप से कर्म बंधा है उसी रूप में भोगे बिना उसकी निर्जरा नहीं होती। कर्म बधंने के पश्चात् जब तक फल न दे ऐसी अवस्था को आबाधाकाल कहते हैं। कर्मों की अधीनता के कारण अव्यक्त दुःख से दुखी प्राणी जन्म जरा और मरण से भयभीत होकर संसार–चक्र में भटकते रहते हैं। प्राणियों के शुभाशुभकर्म ही संसार भ्रमण के कारण है। कर्मास्रव के क्षीण होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है। कर्म की बड़ी विचित्र गति है। इसे कोई नहीं जानता।